बिहार राज्य

बनाम

शैलाबाला देवी

[पतंजलि शास्त्री;मुख्य न्यायाधीश, मेहर चंद महाजन,

मुखर्जी, दास और बोस, न्यायमूर्तिगण]

भारतीय प्रेस (आपातकालीन शक्तियाँ) अधिनियम (1931 का XXIII), धारा 4(1)(ए)—भारत का संविधान अनुच्छेद 19(1) और 19(2)—धारा 4(1)(ए) द्वारा वाक् एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर लगाए गए प्रतिबंध—क्या अनुच्छेद 19(2) के दायरे में आते हैं—धारा 4(1) की वैधता—राजनैतिक जनोत्तेजकों के भाषण—निर्वचन—अभियोजन का भार।

भारतीय प्रेस (आपातकालीन शक्तियाँ) अधिनियम (1931 का XXIII) की धारा 4(1)(ए) असंवैधानिक नहीं है क्योंकि उक्त धारा द्वारा वाक् एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर लगाए गए प्रतिबंध पूरी तरह से राज्य की सुरक्षा को कमजोर करने या उसे पलटने के विरुद्ध निर्देशित हैं और संविधान के अनुच्छेद 19(2) की सीमा के भीतर हैं। *रोमेश थापर का मामला* ([1950] एस.सी.आर. 594]) और *बृज भूषण का मामला* ([1950] एस.सी.आर. 605) ऐसा कोई व्यापक प्रस्ताव प्रतिपादित नहीं करते हैं कि धारा 4(1)(ए) द्वारा लगाए गए प्रकृति के प्रतिबंध अनुच्छेद 19(2) के दायरे से बाहर हैं क्योंकि वे सामान्यतः सार्वजनिक व्यवस्था के हित में कल्पित हैं। किसी भी स्थिति में, संविधान (प्रथम संशोधन) अधिनियम द्वारा अनुच्छेद 19(2) में किया गया संशोधन, जो कि पूर्वव्यापी प्रभाव से लागू है, इस मामले को स्पष्ट कर देता है।

यह निर्धारित करने के लिए कि कोई विशेष दस्तावेज़ धारा 4(1) के दायरे में आता है या नहीं, उस लेख पर समग्र रूप से निष्पक्ष, स्वतंत्र और उदार दृष्टिकोण से विचार किया जाना चाहिए, न कि अलग-थलग अंशों या यहाँ-वहाँ किसी कड़े शब्द पर बहुत अधिक ध्यान केंद्रित करके; और यह जानने का प्रयास किया जाना चाहिए कि पूरी रचना का जनता के मन पर सामान्यतः क्या प्रभाव पड़ेगा। वे अभिव्यक्तियाँ जो राजनैतिक जनोत्तेजकों का सामान्य साधन हैं और जिनमें किसी को उत्तेजित करने की

प्रवृत्ति नहीं है, तथा भाषा में अतिशयोक्ति, उस परिणाम (हिंसा/अशांति) की ओर नहीं ले जा सकती। इस प्रकार की बयानबाज़ी बोधगम्य परिस्थितियों में भावनाओं को भड़का सकती है, उदाहरण के तौर पर, यदि इसे किसी उत्तेजित भीड़ को संबोधित किया जाए, लेकिन यदि ऐसी परिस्थितियाँ मौजूद हैं तो इस तथ्य को स्थापित करना सरकार का काम है।

अपीलीय क्षेत्राधिकार: 1951 का मामला संख्या 273।

पटना स्थित उच्च न्यायालय (शियरर, रामास्वामी और सरजू प्रसाद; न्यायमूर्तिगण) के निर्णय और आदेश दिनांक 13 अक्टूबर 1950, से भारत के संविधान के अनुच्छेद 132(1) और 134(1)(सी) के तहत अपील, जो कि 1949 के विविध न्यायिक मामले संख्या 220 में दिया गया था।

अपीलकर्ता की ओर से *एस. के. मित्रा* (*के. दयाल* उनके साथ)।

उत्तरदाता की ओर से *बसंत चंद्र घोष* और *अरुण चंद्र मित्रा*।

26 मई,1952। न्यायालय ने निम्नानुसार निर्णय सुनाया:—

महाजन न्यायमूर्ति—यह अपील बिहार राज्य द्वारा पटना उच्च न्यायालय की एक विशेष पीठ के निर्णय के विरुद्ध दायर की गई है, जिसने भारतीय प्रेस (आपातकालीन शक्तियाँ) अधिनियम, 1931 के XXIII की धारा 23 के तहत उत्तरदाता के आवेदन को स्वीकार किया था। ऐसा प्रतीत होता है कि याचिका पर दोनों पक्षों द्वारा इस तरह बहस की गई थी मानो वह संविधान के अनुच्छेद 226 के तहत दी गई याचिका हो।

उत्तरदाता संबंधित समय पर पुरुलिया स्थित भारती प्रेस की संचालिका थीं। "संग्राम" शीर्षक वाला एक पुस्तिका उक्त प्रेस में छपा था और आरोप है कि इसे मानभूम जिले के पुरुलिया शहर में वितरित किया गया था। बिहार सरकार का मानना था कि पुस्तिका में भारतीय प्रेस (आपातकालीन शक्तियाँ) अधिनियम की धारा 4(1) के तहत वर्णित प्रकृति की आपत्तिजनक सामग्री शामिल है और सरकार ने अधिनियम की धारा 3(3) के तहत 19 सितंबर, 1949 तक प्रेस को 2,000 रुपये की सुरक्षा राशि जमा करने की आवश्यकता बताई। 26 सितंबर, 1949 को,

उत्तरदाता ने उपरोक्त आदेश को अपास्त करने के लिए धारा 23 के तहत उच्च न्यायालय में आवेदन किया। पीठ में शामिल न्यायाधीशों के बहुमत द्वारा इस आवेदन को स्वीकार कर लिया गया। न्यायमूर्ति शियरर की राय थी कि आवेदन को खारिज कर दिया जाना चाहिए।

बिहार सरकार द्वारा पारित आदेश की वैधता पर कई आपत्तियाँ उठाई गईं, लेकिन उन सभी का उल्लेख करना अनावश्यक है। उच्च न्यायालय के समक्ष जिन दो बिंदुओं को गंभीरता से रखा गया, वे ये थे कि उस परचे में धारा 4(1) में वर्णित प्रकृति का कोई शब्द या संकेत या दृश्य प्रतिनिधित्व नहीं था, और अधिनियम की धारा 4(1) के प्रावधान संविधान के अनुच्छेद 19(1) के साथ असंगत थे और इस प्रकार अनुच्छेद 13 के तहत शून्य थे। उच्च न्यायालय इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि पुस्तिका के अधिनियम के अपकृत्य में आता है। न्यायमूर्ति सरजू प्रसाद, जिनसे न्यायमूर्ति रामास्वामी सहमत थे, ने इस न्यायालय के *रोमेश थापर बनाम मद्रास राज्य*[1]और *बृज भूषण बनाम दिल्ली राज्य* [2]के निर्णयों की व्याख्या करते हुए, हालांकि कुछ अनिच्छा के साथ पाया कि अधिनियम की धारा 4(1)(ए) संविधान के प्रतिकूल थी और इसलिए शून्य थी। हालाँकि, न्यायमूर्ति शियरर ने माना कि पुस्तिका एक राजद्रोहात्मक मानहानि था और सर्वोच्च न्यायालय के उपर्युक्त दो निर्णयों में ऐसा कुछ भी नहीं था जो न्यायालय को अधिनियम की धारा 4(1)(ए) के प्रावधानों को शून्य मानने के लिए मजबूर करता हो।

मेरी राय में, न्यायमूर्ति शियरर का यह विचार सही था कि इस न्यायालय के उन दो निर्णयों में ऐसा कुछ भी नहीं है जो वर्तमान मामले के विवाद्य बिंदु पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रभाव डालता हो, और न्यायमूर्ति सरजू प्रसाद तथा न्यायमूर्ति रामास्वामी दोनों अधिनियम की धारा 4(1) के खंड (ए) और (बी) की अमान्यता के प्रश्न पर उन निर्णयों को निर्णायक मानने

---

1 [1950] एस.सी.आर. 594.

2 1950] एस.सी.आर. 605.

में त्रुटि पर थे। अपने निर्णय के समापन भाग की ओर सरजू प्रसाद; न्यायमूर्ति ने निम्नानुसार टिप्पणी की:—

"मैं यह टिप्पणी करने के लिए विवश हूँ कि सर्वोच्च न्यायालय के निर्णयों की उपरोक्त चर्चाओं से तार्किक रूप से यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि कोई व्यक्ति प्रेस के माध्यम से या मौखिक रूप से हत्या या अन्य संज्ञेय अपराधों के लिए उकसाता रहता है, तो वह ऐसा करने के लिए दंडमुक्ति के साथ स्वतंत्र होगा क्योंकि वह वाक् एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के अपने मौलिक अधिकार के प्रयोग के विशेषाधिकार का दावा करेगा। कोई भी कानून जो संबंधित व्यक्ति के इस अधिकार को अंकुश लगाने का प्रयास करता है या करेगा, वह संविधान के अनुच्छेद 19(2) के तहत सुरक्षित नहीं होगा और उसे शून्य घोषित करना होगा। ऐसा इसलिए होगा क्योंकि व्यक्ति की ओर से ऐसा भाषण या अभिव्यक्ति न तो लिखित मानहानि, न मौखिक मानहानि, न अपहानि, न न्यायालय की अवमानना और न ही ऐसे किसी मामले के अंतर्गत आएगी जो शालीनता या नैतिकता के विरुद्ध हो या जो राज्य की सुरक्षा को कमजोर करता हो या उसे उलटने की प्रवृत्ति रखता हो। मैं शांति के साथ ऐसी विषम स्थिति की कल्पना नहीं कर सकता, लेकिन सर्वोच्च न्यायालय के उन निर्णयों के अधिकार के आधार पर यह निष्कर्ष अपरिहार्य प्रतीत होता है जिनसे हम बाध्य हैं। इसलिए, मैं चाहता हूँ कि इस बिंदु पर मेरे निर्णय का परीक्षण जल्द से जल्द स्वयं सर्वोच्च न्यायालय द्वारा किया जाए और ऊपर बताई गई विषम स्थिति के आलोक में स्थिति की पुनः जांच की जाए। मुझे ऐसा लगता है कि संविधान अधिनियम में प्रयुक्त शब्दों को एक व्यापक और उदार अर्थ दिया जाना चाहिए, भले ही वे उस खंड में आते हों जो संविधान अधिनियम के अनुच्छेद 19(1)(ए) के तहत दिए गए मौलिक अधिकार का अपवाद प्रदान करता है।"

ये टिप्पणियाँ—मैं बड़े सम्मान के साथ कहता हूँ—इस न्यायालय के ऊपर संदर्भित दो निर्णयों के सटीक दायरे की समझ के पूर्ण अभाव को प्रकट करती हैं। अधिनियम की धारा 3(3), जिसके तहत वर्तमान मामले में नोटिस जारी किया गया था, निम्नानुसार अधिनियमित करती है:

"जब कभी प्रांतीय सरकार को यह प्रतीत होता है कि किसी प्रिंटिंग प्रेस का उपयोग किसी ऐसे समाचार पत्र, पुस्तक या अन्य दस्तावेज़ को छापने या प्रकाशित करने के उद्देश्य से किया जाता है, जिसमें धारा 4 की उपधारा (1) में वर्णित प्रकृति के कोई शब्द, संकेत या दृश्य प्रतिनिधित्व शामिल हैं, तो प्रांतीय सरकार प्रेस के संचालक को लिखित नोटिस देकर .... संचालक को दंडाधिकारी के पास सुरक्षा राशि जमा करने का आदेश दे सकती है...."

धारा 4(1) का खंड (ए) उन शब्दों या संकेतों या दृश्य से संबंधित है जो हत्या के किसी भी अपराध या हिंसा से जुड़े किसी भी संज्ञेय अपराध को करने के लिए उकसाते हैं या प्रोत्साहित करते हैं, या उकसाने या प्रोत्साहित करने की प्रवृत्ति रखते हैं। यह स्पष्ट है कि किसी व्यक्ति की ओर से ऐसे भाषण या अभिव्यक्तियाँ जो हत्या जैसे हिंसक अपराधों को करने के लिए उकसाती हैं या प्रोत्साहित करती हैं, वे अनिवार्य रूप से ऐसे मामले होंगे जो राज्य की सुरक्षा को कमजोर करेंगे और संविधान के अनुच्छेद 19(2) द्वारा स्वीकृत कानून के दायरे में आएंगे। मैं यह टिप्पणी किए बिना नहीं रह सकता कि इस न्यायालय के *रोमेश थापर के मामले*[1] और *बृज भूषण के मामले*[2] के निर्णयों का एक से अधिक बार दुरुपयोग और गलत अर्थ निकाला गया है और उन्हें इस व्यापक प्रस्ताव के रूप में समझा गया है कि भारतीय प्रेस (आपातकालीन शक्तियाँ) अधिनियम की धारा 4(1)(a) द्वारा लगाए गए प्रकृति के या इसी तरह के प्रतिबंध संविधान के अनुच्छेद 19(2) के दायरे से बाहर हैं क्योंकि वे सामान्यतः सार्वजनिक व्यवस्था के

1 [1950] एस.सी.आर. 594.

2 [1950] एस.सी.आर. 605.

हित में कल्पित हैं। न्यायमूर्ति सरजू प्रसाद भी प्रतीत होता है कि उसी त्रुटि का शिकार हो गए हैं।

रोमेश थापर के मामले [1]में जो प्रश्न उठा था वह यह था कि क्या विवादित अधिनियम (मद्रास सार्वजनिक व्यवस्था अनुरक्षण अधिनियम, 1949 का XXIII) जहाँ तक वह धारा 9 (1-ए) द्वारा "सार्वजनिक सुरक्षा सुनिश्चित करने और सार्वजनिक व्यवस्था के अनुरक्षण के उद्देश्य से, मद्रास प्रांत या उसके किसी भी हिस्से में किसी भी दस्तावेज़ या दस्तावेजों की श्रेणी के प्रवेश, संचलन, बिक्री या वितरण को प्रतिबंधित या विनियमित करने के लिए" प्रांतीय सरकार को अधिकृत करने का प्रयास करता था, वह किसी ऐसे मामले से संबंधित कानून था जो राज्य की सुरक्षा को कमजोर करता था या उसे पलटने की प्रवृत्ति रखता था; और यह टिप्पणी की गई थी कि विवादित अधिनियम का उद्देश्य चाहे जो भी रहा हो और इसके निर्माताओं के मन में जो भी लक्ष्य रहे हों, स्वयं कानून में परिसीमन करने वाले शब्दों के अभाव में, *इसके अनुप्रयोग और दायरे को प्रतिकूल गतिविधियों के उन गंभीर रूपों तक सीमित नहीं किया जा सकता है जो राज्य की सुरक्षा को खतरे में डालने के लिए कल्पित हैं,* और न ही इस बात की कोई गारंटी थी कि अधिनियम के तहत शक्तियों का प्रयोग करने के लिए अधिकृत व्यक्ति, उनका उपयोग करते समय उन लोगों के बीच भेदभाव करेंगे जो राज्य की सुरक्षा के प्रतिकूल कार्य करते हैं और जो नहीं करते हैं। हालाँकि, विवादित अधिनियम की धारा 4(1)(ए) प्रतिकूल गतिविधि के गंभीर रूपों तक ही सीमित है। यह विशेष रूप से हिंसक अपराधों के लिए उकसाने से संबंधित है और उन कार्यों से संबंधित नहीं है जो सामान्यतः सार्वजनिक व्यवस्था के अनुरक्षण से सरोकार रखते हैं। ऐसा होने के नाते, मद्रास सार्वजनिक व्यवस्था अनुरक्षण अधिनियम की धारा 9 (1-ए) की संवैधानिकता पर दिए गए *रोमेश थापर के मामले* के निर्णय की भारतीय प्रेस (आपातकालीन शक्तियाँ) अधिनियम की धारा 4(1)(ए) के प्रावधानों की संवैधानिकता तय करने के लिए कोई

1 1950] एस.सी.आर. 594.

प्रासंगिकता नहीं है। *रमेश थापर के निर्णय* [1]के समापन भाग की ओर निम्नानुसार टिप्पणी की गई थी:—

"इसलिए हमारी राय है कि जब तक वाक् एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को प्रतिबंधित करने वाला कानून *पूरी तरह से* राज्य की सुरक्षा को कमजोर करने या उसे पलटने के विरुद्ध निर्देशित न हो, तब तक ऐसा कानून अनुच्छेद 19 के खंड (2) के तहत आरक्षण के भीतर नहीं आ सकता, भले ही वे प्रतिबंध जिन्हें वह लगाने का प्रयास करता है, सामान्यतः सार्वजनिक व्यवस्था के हित में कल्पित किए गए हों। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि धारा 9(1-ए), जो सार्वजनिक सुरक्षा सुनिश्चित करने या सार्वजनिक व्यवस्था के अनुरक्षण के व्यापक उद्देश्य के लिए प्रतिबंध लगाने के लिए अधिकृत करती है, खंड (2) के तहत अधिकृत प्रतिबंधों के दायरे से बाहर है, और इसलिए शून्य तथा असंवैधानिक है।"

भारतीय प्रेस (आपातकालीन शक्तियाँ) अधिनियम की धारा 4(1)(ए) द्वारा वाक् एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर लगाए गए प्रतिबंध पूरी तरह से राज्य की सुरक्षा को कमजोर करने या उसे पलटने के विरुद्ध निर्देशित हैं और संविधान के अनुच्छेद 19(2) के दायरे में हैं। हमारे रोमेश थापर के मामले के निर्णय से निकाला गया यह निष्कर्ष कि कोई व्यक्ति प्रेस के माध्यम से हत्या या अन्य संज्ञेय अपराध के लिए दंडमुक्ति के साथ उकसाने के लिए स्वतंत्र होगा, आसानी से बचा जा सकता था, जैसा कि न्यायमूर्ति शियरर द्वारा बचा गया, जिन्होंने अत्यंत सशक्त शब्दों में निम्नानुसार कहा था:—

"मैंने सर्वोच्च न्यायालय के निर्णयों को बार-बार पढ़ा है, और मुझे स्वयं उनमें ऐसा कुछ भी नहीं मिला जो सीधे विवाद्य बिंदु से संबंधित हो, और मुझे यह सोचने पर मजबूर करे कि, उनकी राय में, इस तरह का प्रतिबंध अब अनुमेय नहीं है।"

---

1 [1950] एस.सी.आर. 594.

चाहे जो भी हो, अब यह मामला संविधान (प्रथम संशोधन) अधिनियम द्वारा संशोधित अनुच्छेद 19(2) की भाषा से निष्कर्ष पर पहुँच चुका है, जो कि पूर्वव्यापी प्रभाव से लागू है, और इस बिंदु पर उच्च न्यायालय के निर्णय को बरकरार नहीं रखा जा सकता है।

श्री बसंत चंदर घोष ने तर्क दिया कि पूर्वव्यापी प्रभाव के साथ संविधान के अनुच्छेद 19(2) में किया गया संशोधन संविधान के अनुच्छेद 20 के प्रतिकूल था क्योंकि इसने एक निश्चित कार्य को अपराध घोषित कर दिया जो उस समय अपराध नहीं था जब वह कार्य किया गया था। यह तर्क असमर्थनीय है। उत्तरदाता पर भारतीय प्रेस (आपातकालीन शक्तियाँ) अधिनियम की धारा 4(1)(ए) के प्रावधानों के उल्लंघन का आरोप है, जो वर्ष 1949 में लागू एक कानून था जब आपत्तिजनक पुस्तिका प्रकाशित हुआ था। उन्हें अब तक किसी भी अपराध के लिए दोषी नहीं ठहराया गया है और अनुच्छेद 19(2) में संशोधन के कारण उन्हें उसी के लिए दोबारा दोषी नहीं ठहराया जा रहा है। अनुच्छेद 20 का वर्तमान मामले में कोई अनुप्रयोग नहीं है। अनुच्छेद 19(2) विधायिका को संविधान के अनुच्छेद 19(1) के तहत प्रदत्त मौलिक अधिकारों पर उचित प्रतिबंध लगाने वाले कानून बनाने का अधिकार देता है। यह ऐसे किन्हीं कार्यों को पूर्वव्यापी प्रभाव से अपराध घोषित नहीं करता जो पहले अपराध नहीं थे। इसके अलावा, वर्ष 1949 में उत्तरदाता के पास ऐसे कोई मौलिक अधिकार नहीं थे जिनके बारे में कहा जा सके कि संशोधन द्वारा उनका उल्लंघन हुआ है।

यद्यपि, जैसा कि मैंने ऊपर कहा है, उच्च न्यायालय का यह निष्कर्ष त्रुटिपूर्ण है कि भारतीय प्रेस (आपातकालीन शक्तियाँ) अधिनियम की धारा 4(1)(ए) के प्रावधान संविधान के प्रतिकूल हैं, फिर भी इसके निर्णय को बरकरार रखा जाना चाहिए क्योंकि यह यह मानने में भी त्रुटि पर है कि विचाराधीन पुस्तिका भारतीय प्रेस (आपातकालीन शक्तियाँ) अधिनियम की धारा 4(1)(ए) के अपकृत्य के दायरे में आता है।

यह दस्तावेज़ उच्च-स्तरीय बंगाली भाषा में लिखा गया है और इसमें काव्यमय अलंकार के दिखावे के साथ काफी मात्रा में लोकलुभावन शब्दावली शामिल है। यह कुछ अमूर्त प्रस्तावों को कुछ जटिल भाषा में प्रतिपादित करता है और इसे काफी प्रयास के बिना समझा नहीं जा सकता है। उच्च न्यायालय ने माना कि दस्तावेज़ धारा 4(1)(ए) के प्रावधानों का उल्लंघन करता है क्योंकि इसके कुछ हिस्से एक खूनी और हिंसक क्रांति की परिकल्पना करते हैं और पूरे आपत्तिजनक पुस्तिका में जो केंद्रीय विषय व्याप्त है, वह यह है कि लेखक एक खूनी क्रांति लाने और उन व्यक्तियों और नीतियों के पूर्ण विनाश के माध्यम से वर्तमान व्यवस्था को पूरी तरह से बदलने के लिए उत्सुक है, जो उसके अनुसार विपक्षी खेमे में हैं। लेख के निम्नलिखित अंशों का विशेष रूप से उल्लेख किया गया था, जो विद्वान न्यायाधीशों की राय में उस निष्कर्ष का समर्थन करते हैं। इनमें से पहला अंश इन शब्दों में है:—

"ओ मूर्ख अत्याचारी, तुम अपनी लाल आँखों और बुलंद आवाज़ से मुझमें घोर आतंक पैदा करना चाहते हो—करो ऐसा, मैं नहीं डरता...... मेरा विरोध संकीर्ण राष्ट्रीय राजनीति के खिलाफ है।"

एक अन्य अंश इस प्रकार है:—

> "मृत्यु मेरा गुप्त प्रेम है; विष मेरा पेय है; अग्नि की लपटें मेरी मधुर समीर हैं; सौ शोकाकुल निःसंतान माताओं का विलाप मेरी बाँसुरी की बस एक धुन है; विधवाओं का उनके वैधव्य पर रोना मेरे गीत की बस एक लय है।"

अगला उद्धृत अंश इन शब्दों में है:—

> "मैं श्मशान हूँ। मैं रक्तपिपासु देवी काली हूँ जो श्मशान में रहती और विचरण करती है। प्लेग या अकाल मेरी परम खुशी है ...... मैं प्यासी हूँ, मुझे रक्त चाहिए, मुझे

क्रांति चाहिए, मुझे संघर्ष में विश्वास चाहिए। अन्याय की बेड़ियों को चीर दो, फाड़ दो; अत्याचारी के अभिमानी सिर को कुचल डालो।"

एक अन्य अंश का भी उल्लेख किया गया जिसमें लेखक चाहता है कि उसकी पुकार दूर-दराज के लोगों द्वारा सुनी जाए, कि उसकी पुकार पहाड़ियों, जंगलों, नदियों और नालों के उस पार बहुत दूर तक सुनी जाए और जो भी इसे सुनें वे अत्याचारी के विनाश के लिए कतारों में शामिल होने हेतु आगे आएं; और जिसमें वह दावा करता है कि वह मृत्यु का दूत है, कि उसका क्रांतिकारी गीत प्रत्येक श्रोता के द्वार पर दस्तक देता है और उन्हें संकेत देता है कि यदि उनमें जीवन है, यदि उनमें स्वास्थ्य है, यदि उनमें साहस है, तो वे बाहर आएं और उन लोगों के टुकड़े-टुकड़े कर दें जो माता पर अत्याचार करते हैं, और वह कहता है कि उन अनुयायियों के रक्त से क्रांति को बढ़ने दो। इसका समापन पाठकों के लिए इन शब्दों में एक आह्वान के साथ होता है:—

"यदि तुम सच्चे हो, यदि तुम ईश्वर का उपहार हो, यदि तुम नाजायज नहीं हो, तो अत्याचारी के अनुचित आचरण, उत्पीड़न और अन्याय के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए निर्भीक हृदय के साथ आगे आओ। हमें गलत उत्पीड़न को सहन नहीं करना चाहिए। ओ लोगों, अपने हृदय की जलती हुई पीड़ा से उस दमनकारी, मनमौजी अत्याचारी का हृदय जला दो। सभी गलतियों, सभी मनमानियों, सभी उत्पीड़नों, सभी अत्याचारों को ज्वाला में भस्म हो जाने दो।"

मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि उच्च न्यायालय के विद्वान न्यायाधीशों ने इस लेख को बहुत गंभीरता से लिया। यह उस विचार के योग्य नहीं था। यह एक प्रकार का पैबंद लगा हुआ काम है, जिसके विभिन्न हिस्सों के बीच कोई निरंतरता या सामंजस्य नहीं है। इसके कुछ हिस्से अर्थहीन बकवास हैं और अन्य हिस्सों में यह अमूर्त रूप में क्रांति की बात करता है। इसमें विशेष रूप से किसी व्यक्ति से या किसी ज्ञात या विशिष्ट कारण के लिए कोई अपील नहीं की गई

है। किसी विशिष्ट प्रकार के उत्पीड़न या अन्याय का कोई उल्लेख नहीं है जिसे दूर करने का इरादा हो। इच्छा केवल उत्पीड़न, तानाशाही और अन्याय को समाप्त करके पृथ्वी का चेहरा बदलने की है। इस पुस्तिका को उस इलाके में लिखे जाने के समय किसी भी आंदोलन या अभियान से जोड़ने का कोई भी साक्ष्य मौजूद नहीं है। मैंने इस लेख को कई बार पढ़ा है और मुझे लगता है कि श्री घोष सही हैं जब वे कहते हैं कि पुस्तिका में केवल खोखले नारे हैं, जिनका कोई विशेष अर्थ नहीं है, सिवाय कुछ आलंकारिक अभिव्यक्तियों या भाषा के जिन्हें विभिन्न लेखकों से बिना किसी क्रम के लिया गया है और जिसमें काव्यमय छटा का पुट है। वर्तमान समय में और हमारे देश की वर्तमान पृष्ठभूमि में इस चरित्र के लेखन न तो उत्तेजित करते हैं और न ही उस वर्ग के किसी व्यक्ति को उत्तेजित करने की प्रवृत्ति रखते हैं जिसके द्वारा इस प्रकृति के पुस्तिका को पढ़े जाने की संभावना है। वे अनिवार्य रूप से शिक्षित लोग होंगे। ऐसे लेखन उनके पाठकों को प्रभावित नहीं करते और कोई भी उन्हें गंभीरता से नहीं लेता है। लोग ऐसी सामग्री पर हंसते हैं और उसका मजाक उड़ाते हैं क्योंकि वे इससे बहुत अधिक परिचित हो चुके हैं और ऐसे लेखनों ने अपना सारा डंक (प्रभाव) खो दिया है। कोई भी साधारण व्यक्ति जो खूनी क्रांति द्वारा व्यवस्था बदलने का वादा करता है और एक नए मसीहा की भूमिका अपनाता है, वह अपने पाठकों के लिए केवल उपहास का पात्र बनता है और पाठकों के मन में कोई उत्तेजना पैदा करने में सफल होने के बजाय अपने प्रति प्रतिकूल प्रभाव पैदा करता है। इस तरह की बयानबाज़ी बोधगम्य परिस्थितियों में भावनाओं को भड़का सकती है, जैसे कि यदि किसी उत्तेजित भीड़ को संबोधित किया जाए, लेकिन यदि ऐसी असाधारण परिस्थितियाँ मौजूद थीं, तो यह राज्य सरकार का काम था कि वह इस तथ्य को स्थापित करे। ऐसे किसी भी प्रमाण के अभाव में, हमें यह मानना चाहिए कि पुस्तिका शिक्षित व्यक्तियों द्वारा अपने घरों की शांति में या अन्य स्थानों पर पढ़ा जाएगा जहाँ वातावरण सामान्य है। इसलिए, मैं *भगवती चरण शुक्ल*

बनाम सी.पी. एवं बरार सरकार[1] में मेरे भाई बोस के शब्दों में यह कहूँगा कि यद्यपि विचाराधीन पुस्तिका में अतिशयोक्तिपूर्ण भाषा का प्रयोग किया गया है और इसमें वही कच्ची भावनात्मक अपील है जो जनोत्तेजक का सामान्य साधन है, साथ ही कवियों की नकल करने का एक गलत और अप्रभावी प्रयास है, बस इतना ही है, और इसमें इससे अधिक कुछ नहीं है। वह समय बहुत पहले बीत चुका है जब इस प्रकार के लेखन सामान्य परिस्थितियों में लोगों को हिंसा या हत्या के अपराध करने के लिए उत्तेजित कर सकते थे या किसी को हिंसा के कृत्य करने के लिए उत्तेजित करने की प्रवृत्ति रखते थे। पुनः, प्रयुक्त भाषा रहस्यवाद से भरी है और इसे आसानी से नहीं समझा जा सकता है और यह किसी भी व्यक्ति पर किसी भी प्रकार का प्रभाव नहीं डालती है।

यह निर्धारित करने के लिए कि कोई विशेष दस्तावेज़ धारा 4 (1) के किसी भी खंड के दायरे में आता है या नहीं, उस लेख पर समग्र रूप से और एक निष्पक्ष, स्वतंत्र तथा उदार भावना से विचार करना होगा, न कि अलग-अलग अंशों या यहाँ-वहाँ के किसी कड़े शब्द पर बहुत अधिक ध्यान देना होगा, और यह जानने का प्रयास किया जाना चाहिए कि पूरी रचना का जनता के मन पर सामान्य रूप से क्या प्रभाव पड़ेगा। ऐसे भाव जो राजनीतिक लोक-लोभावन नेताओं के घिसे-पिटे जुमले हैं और जिनमें किसी को भी उत्तेजित करने की प्रवृत्ति नहीं होती, तथा भाषा की अतिशयोक्ति उस परिणाम तक नहीं ले जा सकती। विद्वान सरकारी अधिवक्ता ने *बद्री नारायण बनाम मुख्य सचिव, बिहार सरकार* [2]में हैरिस; मुख्य न्यायाधीश के निर्णय पर भरोसा जताया। विद्वान मुख्य न्यायाधीश ने उसमें यह माना कि यह दिखाने के लिए कि कुछ शब्द धारा 4(1)(ए) के अंतर्गत आते हैं, यह दिखाना आवश्यक नहीं है कि वे शब्द किसी विशेष अपराध या अपराधों को करने के लिए उकसाते या प्रोत्साहित करते हैं और यह पर्याप्त है यदि वे

---

1 आई.एल. आर. 1946 नाग. 865.

2 ए.आई.आर. 1941 पट. 132.

सामान्य रूप से हिंसा के संज्ञेय अपराधों को करने के लिए उकसाते हैं या प्रोत्साहित करते हैं। उस मामले में, "मज़दूर, दुनिया का मुख्य आधार" शीर्षक वाली एक कविता इस बात पर ज़ोर देने के साथ शुरू हुई कि मज़दूर वर्तमान दुनिया के मुख्य आधार हैं और फिर उनकी दुर्भाग्यपूर्ण और दयनीय स्थिति का वर्णन करने लगी। बाद के एक हिस्से में लेखक ने कहा कि यद्यपि आज वे मूक हैं, लेकिन संगठित होने पर, मज़दूर लाखों लोगों जितने शक्तिशाली होंगे और कविता का यह हिस्सा इन शब्दों के साथ समाप्त हुआः

"आप अपने मालिकों के शोषण को लाचारी से क्यों बर्दाश्त कर रहे हैं।"

शेष पंक्तियाँ इस प्रकार थीं :-

"मज़दूरों, अब क्रांति का बिगुल फूंक दो। आकाश कांप उठेगा, ब्रह्मांड हिल जाएगा और थल तथा जल से क्रांति की ज्वालाएँ फूट पड़ेंगी। तुम जो शोषण के पात्र रहे हो, अब इस धरती पर विनाश का भयानक तांडव करो; सचमुच, मज़दूरों, केवल पूर्ण विनाश ही एक नई विश्व व्यवस्था का निर्माण करेगा और उससे पूरी दुनिया में खुशहाली आएगी।"

यह बिल्कुल स्पष्ट है कि यहाँ मज़दूरों से एक अपील की गई थी जिसमें उन्हें हिंसा के कृत्य करने के लिए उकसाया और प्रोत्साहित किया गया था। प्रयुक्त शब्दों की प्रवृत्ति निश्चित रूप से उस परिणाम को प्राप्त करने की थी। वे कोई खाली नारे या अमूर्त प्रस्ताव नहीं थे। इसका एक सुसंगत और सुस्पष्ट उद्देश्य था, यानी मज़दूरों को उत्तेजित करना और उन्हें कार्रवाई में लाना। इस लेख के बारे में की गई किसी भी टिप्पणी का वर्तमान मामले के निर्धारण के लिए कोई उपयुक्त अनुप्रयोग नहीं हो सकता है। विद्वान मुख्य न्यायाधीश ने निर्णय के अंतिम भाग में बहुत ही प्रासंगिक रूप से यह रेखांकित किया कि शिकायत किए गए दस्तावेज़ की एक सामान्य समझ वाली व्याख्या की जानी चाहिए, जिसका उत्तर हमेशा यह होना चाहिए कि दस्तावेज़ या शब्द एक सामान्य समझ वाले व्यक्ति पर क्या प्रभाव डालेंगे। वर्तमान मामले में इस प्रश्न पर

मेरा उत्तर यह है कि पहली नज़र में पढ़ा गया यह दस्तावेज़ तब तक समझ में आने योग्य नहीं है जब तक कि इसे किसी विद्वान व्यक्ति द्वारा उस सामान्य समझ वाले व्यक्ति को समझाया न जाए और इसलिए यह अपने आप में ऐसे व्यक्ति पर किसी भी तरह का कोई प्रभाव नहीं डाल सकता है। उस लेख को ऐसे व्यक्ति को समझाए जाने के बाद, वह केवल इस पर हँसेगा और इसे गंभीरता से लिए बिना रद्दी की टोकरी में फेंक देगा। वह इस बात पर विश्वास करने से इनकार कर देगा कि इस तरह का व्यक्ति खूनी क्रांति की अपील करके एक नई विश्व व्यवस्था का निर्माण कर सकता है।

जैसा कि मैंने *हरकृष्ण सिंह बनाम एम्परर*[1] में अपने निर्णय में उल्लेख किया था, इस दस्तावेज़ में दिखाई देने वाले शब्दों का उपयोग किसी भी समझदार पाठक के मन पर कोई प्रभाव नहीं डालता है। वह मामला धारा 4(1) के खंड (डी) से संबंधित था, लेकिन इसके पीछे का अंतर्निहित सिद्धांत उन लेखों की व्याख्या पर भी लागू होता है जिनके बारे में धारा 4(1)(ए) के अंतर्गत आने का आरोप है। मेरे कहने का तात्पर्य यह नहीं है या मैं एक सामान्य प्रस्ताव के रूप में यह निर्धारित नहीं करना चाहता कि प्रश्नगत पुस्तिका में प्रयुक्त कुछ शब्द किसी अन्य लेख के संदर्भ में धारा 4(1)(ए) के दायरे में नहीं आएंगे। पुस्तिका के कुछ हिस्सों को, यदि अलग-अलग अंशों के रूप में पढ़ा जाए, तो लोगों को हिंसा के अपराध करने के लिए उत्तेजित करने की प्रवृत्ति हो सकती है, लेकिन यदि पुस्तिका को उसकी संपूर्णता में पढ़ा जाए तो ऐसा प्रभाव नहीं पड़ता है।

परिणाम यह है कि मैं अपील को खारिज कर दूँगा लेकिन परिस्थितियों को देखते हुए लागत (मुकदमे के खर्च) के संबंध में कोई आदेश नहीं दूँगा। राज्य सरकार अपने इस तर्क में सफल रही है कि अधिनियम की धारा 4(1)(ए) संवैधानिक है और यही वह वास्तविक आधार था जिसके कारण वह इस न्यायालय में आई थी।

1 ए.आई.आर. 1946 लाह.22.

पतंजलि शास्त्री मुख्य न्यायाधीश— मैं अपने विद्वान भाई महाजन न्यायाधीश द्वारा अभी दिए गए निर्णय से सहमत हूँ, और मेरे पास जोड़ने के लिए कुछ नहीं है।

मुखर्जी; न्यायाधीश — मैं अपने विद्वान भाई महाजन जे. द्वारा दिए गए निर्णय से सहमत हूँ और मैं स्वयं उस प्रकाशन के संबंध में कुछ शब्द कहना चाहूँगा जिसके कारण सरकार द्वारा भारतीय प्रेस (आपातकालीन शक्तियाँ) अधिनियम के प्रावधान के तहत ज़मानत की मांग की गई थी।

जिस बिंदु पर विचार करने की आवश्यकता है वह यह है कि क्या आक्षेपित प्रकाशन में शामिल शब्द अधिनियम की धारा 4(1)(ए) में वर्णित प्रकृति के हैं; या दूसरे शब्दों में, क्या वे हत्या के किसी अपराध या हिंसा से जुड़े किसी संज्ञेय अपराध को करने के लिए उकसाते हैं या प्रोत्साहित करते हैं अथवा उकसाने या प्रोत्साहित करने की प्रवृत्ति रखते हैं। यह सर्वविदित है कि इस बिंदु पर निर्णय पर पहुँचने के लिए, लेख को समग्र रूप से देखा जाना चाहिए: यहाँ-वहाँ प्रयुक्त अलग-अलग अंशों या विशेष अभिव्यक्तियों पर ज़ोर दिए बिना, और न्यायालय को इस बात पर विचार करना चाहिए कि उन पाठकों के मन पर इस लेख का क्या प्रभाव पड़ने की संभावना है जिनके लिए यह प्रकाशन अभिप्रेत है। प्रकाशन के स्थान, परिस्थितियों और अवसर को भी ध्यान में रखा जाना चाहिए, क्योंकि जिस पृष्ठभूमि में शब्दों का उपयोग किया गया है, उसकी स्पष्ट समझ न्यायालय को उन्हें उनके सही परिप्रेक्ष्य में देखने में बहुत बड़ी सहायता प्रदान करती है।

प्रश्नगत पर्चे का शीर्षक "संग्राम" या संघर्ष है। यह उच्च-स्तरीय बंगाली गद्य में लिखा गया है जिसमें बंगाल के कुछ प्रसिद्ध कवियों के लेखों से यत्र-तत्र लिए गए काव्यात्मक भावों का बड़ा मिश्रण है। इस लेख का उद्देश्य, जहाँ तक दस्तावेज़ से समझा जा सकता है, "संघर्ष" या क्रांति का क्या अर्थ और निहितार्थ है, उसका एक काव्यात्मक या आदर्शवादी चित्र प्रस्तुत करना

है। जैसा कि पर्चे में कहा गया है, "संघर्ष" का लक्ष्य और अंत उस "उत्पीड़न", अन्याय या गलती को मिटाना है जो "अतीत से लेकर भविष्य तक पूरी दुनिया में व्याप्त है"; और सभी गलतियों, अन्याय और उत्पीड़न के नष्ट होने के बाद ही एक नई दुनिया का निर्माण किया जा सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह इस रचना का मुख्य या केंद्रीय विषय है, भले ही इसे बहुत सी असंगत बातों और प्रतीत होने वाले अर्थहीन बयानों के तहत छिपाया गया है। पूरे लेख में इस बात का कोई संकेत नहीं है कि लेखक के मन में किस तरह का उत्पीड़न, अन्याय या गलती थी। किसी विशिष्ट प्रकृति की शिकायतों का संदर्भ देने की बात तो दूर, लेखक राजनीतिक असमानता, आर्थिक शोषण या वर्ग संघर्ष जैसे असंतोष के सामान्य कारणों का भी संकेत नहीं देता है जो दुनिया के कई हिस्सों में आंदोलन के विषय हैं। यह पर्चा उस विशेष क्षेत्र में लोगों के दिमाग को प्रभावित करने वाले किसी अलोकप्रिय उपाय या अन्याय के कृत्य का भी कोई संकेत नहीं देता है जहाँ इसे प्रकाशित किया गया था और जिसके भीतर इसे प्रसारित करने का इरादा था। दस्तावेज़ के एक हिस्से में निम्नलिखित शब्द पाए जाते हैं :

"यदि माँ सच्ची है, तो माँ के नाम पर कोई कलंक न फैलने दो। यदि मातृभाषा माँ के समान है, तो उक्त भाषा आपकी सबसे पूजनीय देवी है। उसके नाम पर कलंक न फैलने दें।"

यह सरकार का मामला नहीं है और न ही इस आशय का कोई वक्तव्य या हलफनामा प्रस्तुत किया गया है कि यहाँ दिए गए अंशों का उस भाषा-विवाद से कोई संबंध है, जिसने इस विशेष जिले को आंदोलित किया था और संभवतः अब भी आंदोलित कर रहा है। दस्तावेज़ के एक अन्य भाग में "संकीर्ण प्रांतीय राजनीति" अभिव्यक्ति का प्रयोग किया गया है, परंतु यहाँ भी सरकार ने यह स्पष्ट करने का कोई प्रयास नहीं किया है कि इस विशेष संदर्भ में इस अभिव्यक्ति का क्या अर्थ या संकेत हो सकता है। चूँकि दस्तावेज़ में वास्तव में किसी अन्याय या उत्पीड़न के कार्यों का उल्लेख नहीं किया गया है, इसलिए यह कहना कठिन है कि वे "उत्पीड़क" कौन हैं,

जिनके "गर्वित सिर" तोड़ने के लिए लेखक अपने पाठकों से आग्रह करता है। यह बिल्कुल स्पष्ट है कि यहाँ उल्लिखित "उत्पीड़क" न तो सरकार है, न ही सत्तारूढ़ दल, और न ही इसका संबंध किसी विशेष वर्ग, व्यक्ति, संप्रदाय या समुदाय से है, जो दूसरों को परेशान कर रहा हो और उनके अधिकारों का हनन कर रहा हो। यह संभव है कि भारतीय प्रेस अधिनियम की धारा 4(1)(ए) के प्रावधान को लागू करने के लिए हत्या या हिंसा के लिए उकसावा किसी विशेष व्यक्ति या वर्ग के विरुद्ध विशेष रूप से निर्देशित होना आवश्यक न हो; लेकिन जब पूरा विवरण अमूर्त रूप में अन्याय या उत्पीड़न के बारे में है, जिसे लेखक समय के आरंभ से विद्यमान बताता है, और जब अतिशयोक्तिपूर्ण भाषा में संघर्ष, पसीने और रक्त के माध्यम से एक बेहतर और स्वच्छ विश्व की स्थापना की आशा व्यक्त की जाती है, तब प्रयुक्त शब्दों को कवित्वपूर्ण कल्पना का एक प्रवाह माना जा सकता है, जिसका वास्तविक तथ्यों से कोई संबंध न होने के कारण दुष्प्रभाव उत्पन्न करने की क्षमता बहुत कम है। अब मैं इस पुस्तिका की विषयवस्तु का विस्तार से परीक्षण करूँगा।

लेखक एक कृत्रिम काव्यात्मक शैली में आरंभ करता है और ऐसी भाषा में, जिसका कोई तर्कसंगत अर्थ निकालना कठिन है, यह वर्णन करता है कि "संघर्ष" या क्रांति क्या है। लेख में व्यक्त "संघर्ष" का मानवीकरण किया गया है, जो अपने आप को निम्नलिखित प्रकार से प्रस्तुत करता है :

"मैं न तो धन हूँ, न जनप्रिय शक्ति, न जनता और न ही यश; ... मैं न आनंद हूँ, न डींग, न प्रिय के नेत्रों की संकोची दृष्टि .... मैं न माँ का स्नेह हूँ, न बहन का प्रेम।"

यदि इन शब्दों का कोई अर्थ निकलता है, तो वे केवल यही अर्थ दे सकते हैं कि वह संघर्ष या क्रांति जिसका लेखक चित्रण करना चाहता है, वह उस चीज़ से भिन्न है जिसे हम आमतौर पर अपने सामाजिक जीवन और सुख-शांति से जोड़ते हैं; यह सभी स्वाभाविक मानवीय

भावनाओं और संवेदनाओं का निषेध (अस्वीकार) है। अगली कंडिका समान रूप से रहस्यमयी भाषा में बताता है कि वास्तव में "संग्राम" या "संघर्ष" क्या है। "मैं पुराना पुरातन इतिहास हूँ" लेख इस प्रकार आगे बढ़ता है; "मैं शाश्वत समय हूँ, मैं भविष्य, वर्तमान और अतीत हूँ, मेरे हृदय में अतीत की कहानी, वर्तमान की समस्याएँ और भविष्य की आवाज़ लिखी है।" मैं नहीं जानता कि क्या यह संपूर्ण जीवन-प्रक्रिया को चित्रित करने का एक काव्यात्मक तरीका है, जिसके बारे में कहा जाता है कि वह संघर्ष के माध्यम से चलती है और इस ग्रह पर हमारे विकास का मार्गदर्शन करती है। लेखक के अनुसार, संघर्ष समय और अनंत काल के समकालीन (सह-अस्तित्व में) है।

अगली कंडिका में लेखक "गलत" शब्द की कई बार पुनरावृत्ति करते हुए आगे कहता है कि "यह गलत ही है जो अतीत से लेकर भविष्य तक हर तरफ व्याप्त है", और इसी गलत को इस संघर्ष के द्वारा ठीक किया जाना है। यहाँ संघर्ष की तुलना, उन कारणों से जिन्हें लेखक ही सबसे अच्छी तरह जानता होगा, एक उफनती नदी की बीच धारा में घास के एक टूटे हुए टुकड़े से, और एक चक्रवात के सामने फेंके गए धूल के एक कण से की गई है। "यह अपमान, दुख और अंतहीन पीड़ा है।" इसकी तुलना फिर से क्रमिक रूप से प्रियसी की भृकुटी (त्योरी चढ़ाने), अकाल, तूफान और बुरे दिनों से की गई है। हर किसी को वहाँ आने का आह्वान किया जाता है "जहाँ आसमान तड़क रहा है और अंतहीन ऊबड़-खाबड़ व कँटीला रास्ता अंधकार में डूबा हुआ है" और एक नई दुनिया के निर्माण में सहायता करने के लिए कहा जाता है। यहाँ उपयोग की गई कई अभिव्यक्तियाँ कुछ प्रसिद्ध बंगाली लेखकों के लेखन से शब्दशः (हूबहू) ली गई हैं, हालाँकि वर्तमान संदर्भ में वे एक निरर्थक प्रलाप के अलावा कुछ नहीं लगतीं।

अगली कंडिका "क्रांति" शब्द से शुरू होता है। संघर्ष ही क्रांति है और संघर्ष तथा क्रांति के माध्यम से दुनिया का नए सिरे से निर्माण किया जाना है। फिर कहा गया है कि "मृत्यु मेरी

प्रियतमा है और मृत्यु ही इस दुनिया में एकमात्र सत्य है।" यदि किसी को मरना ही है, तो बीमारी से मरने का कोई मतलब नहीं है। मनुष्य अत्याचारियों के खिलाफ खड़े होकर एक सम्मानजनक मृत्यु का चयन करे। इस बातचीत के बीच में लेखक काफी अचानक श्री सुभाष चंद्र बोस का नाम ले आता है और अपने पाठकों से सुनने को कहता है "दूर, पहाड़ियों के उस पार, जंगलों के पार, नदियों और नालों के उस पार दुनिया के सबसे महान क्रांतिकारी नेता सुभाष चंद्र बोस की पुकार।" लोगों से तब तक न रुकने के लिए कहा जाता है जब तक कि उद्देश्य प्राप्त न हो जाए। फिर से कहा गया है "मैं संघर्ष हूँ, मैं क्रांति हूँ.... मैं हिंदू हूँ, मैं मुसलमान हूँ, मैं ईसाई हूँ, मैं यहूदी हूँ, मैं केदुइन हूँ, मैं पिछले जन्मों के अपने कर्मों के फलों द्वारा सभी धर्मों से अलग हूँ।" विचारों के किसी भी क्रम पर रत्ती भर भी ध्यान दिए बिना, इसके तुरंत बाद, लेखक द्वारा काल्पनिक अत्याचारी को इस प्रकार संबोधित किया जाता है:

"ओह मूर्ख अत्याचारी तुम अपनी लाल आँखों से डराना चाहते हो, मैं डरता नहीं हूँ।"

लेखक, या यों कहें कि अवतरित "संघर्ष" जो बोलने का दावा करता है, वह फिर कवि टैगोर के प्रसिद्ध शब्दों को दोहराता है और कहता है कि वह त्याग के माध्यम से मोक्ष नहीं चाहता; वह वह मोक्ष चाहता है जो अनगिनत खतरों और कठिनाइयों के बीच आनंद में निहित है। इस दुनिया में जिससे भी घृणा की जाती है, जिससे बचा जाता है और जिससे डरा जाता है, उन सभी में आनंद खोजने के विचार को आगे के अंशों में विस्तार से समझाया गया है। कहा गया है कि "मृत्यु मेरा गुप्त प्रेम है, विष मेरा पेय है, अग्नि की लपटें मेरी मंद समीर हैं, संतानहीन माताओं का क्रंदन मेरी बाँसुरी की एक धुन है और विधवाओं का रुदन मेरे गीत की एक लय है।" इसी भाव में लेखक दुनिया की तमाम अलौकिक और भयानक चीज़ों की कल्पना करता जाता है और उन्हें संघर्ष से जोड़ता जाता है। "मैं आनंद नहीं हूँ, मैं मरती हुई चीखों का अवशेष हूँ......... मैं रक्तपिपासु देवी काली हूँ जो श्मशान घाट में रहती हैं और विचरण करती हैं।

मुझे रक्त चाहिए.......... अत्याचारी के अभिमानी सिर को तोड़ दो। मैं लपटों में स्नान करती हूँ........... वज्रपात स्नेह का मेरा चुंबन है.......... मैं खुद को नहीं समझती। मैं खुद को नहीं जानती। मैं खुद को नहीं पहचानती, फिर भी मुझे क्रांति चाहिए, फिर भी मुझे संघर्ष चाहिए।" उच्च न्यायालय के विद्वान न्यायाधीशों ने इन अंशों पर बहुत अधिक बल दिया, जो उनकी राय में एक खूनी क्रांति के लिए प्रत्यक्ष उकसावा हैं; और यही वह तर्क की दिशा भी है जिसे राज्य की ओर से हमारे समक्ष उपस्थित श्री मित्र द्वारा अपनाया गया है। उत्तरदाता की ओर से उपस्थित श्री घोष द्वारा यह तर्क दिया गया है कि लेखक ने जिस "संघर्ष" का चित्रण किया है और जिसका वह लक्ष्य रखता है, वह एक अहिंसक संघर्ष है और जो रक्त बहाया जाना है वह उन लोगों का रक्त है जिन्हें उत्पीड़न और अन्याय का विरोध करने के लिए कहा गया है। दूसरी ओर, राज्य की ओर से यह तर्क दिया गया है कि ऊपर उद्धृत अंशों का केवल यही अर्थ हो सकता है कि यह एक खूनी और हिंसक क्रांति है जो मनुष्यों को उनके वांछित अंत तक ले जा सकती है। मेरी राय में, इनमें से कोई भी तर्क हमें उस प्रश्न के प्रति दृष्टिकोण का उचित तरीका प्रदान नहीं करता है जिस पर वर्तमान मामले में निर्णय की आवश्यकता है। हमें इस लेख को समग्र रूप से देखना होगा और अपना ध्यान इस बात पर केंद्रित करना होगा कि इसकी केंद्रीय विषय-वस्तु या उद्देश्य क्या माना जा सकता है। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, लेखक जो चाहता है वह किसी विशेष स्थान, या किसी विशेष राजनीतिक या सामाजिक परिवेश से पूरी तरह से असंबद्ध "संघर्ष" या क्रांति का एक आदर्श चित्र खींचना है। लेखक के अनुसार, अन्याय या उत्पीड़न समय की शुरुआत से ही अस्तित्व में है और संघर्ष या क्रांति भी वैसी ही है। यह विश्व की प्रक्रिया का एक अभिन्न अंग है और एक प्रकार की तर्कहीन या अंधी प्रवृत्ति है। इसे यह कहकर व्यक्त किया गया है "मैं खुद को नहीं समझती, मैं खुद को नहीं पहचानती, फिर भी मुझे क्रांति चाहिए।" मृत्यु या युद्ध का चित्रण करने में, कलाकार स्वाभाविक रूप से कुछ भयानक संसर्गों को

चुनेगा। क्रांति के साजो-सामान, जैसा कि लेखक इसका चित्रण करता है, इस दुनिया की सभी डरावनी और घिनौनी चीजें हैं। यह गड़गड़ाहट और तूफान, आग और तबाही, प्रलय, अकाल, खतरे, विनाश और मृत्यु से जुड़ा हुआ है। जहाँ तक इस आदर्श चित्र का संबंध है, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि जिस रक्त की बात की गई है वह अत्याचारी का रक्त है या उत्पीड़ित का, और संघर्ष हिंसक है या शांतिपूर्ण। हिंदू पौराणिक कथाओं में देवी काली विनाश और मृत्यु की देवी हैं, लेकिन वह सौम्य देवी भी हैं जिनके सुरक्षात्मक हाथ सभी उत्पीड़न, खतरे और विपत्ति को दूर करते हैं। यही कारण है कि क्रांति या संघर्ष को इस देवी के समान माना गया है। इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि "संघर्ष" या क्रांति के इस चित्र को चित्रित करने में लेखक ने बहुत कड़े शब्दों का प्रयोग किया है; लेकिन वे अस्वाभाविक नहीं होंगे यदि यह केवल एक आदर्श चित्र है जिसे लेखक वास्तव में चित्रित करना चाहता था। यदि, हालांकि, यह दिखाया जा सकता है कि इन सामान्य रहस्यमयी शब्दों के बादलों के नीचे कुछ ठोस और प्रत्यक्ष छिपा हुआ है, कि "उत्पीड़न" और "अत्याचारी" काल्पनिक अमूर्त चीजें नहीं हैं बल्कि वास्तविक चीजें हैं जो उन लोगों के लिए अज्ञात नहीं हैं जिन्हें यह लेख संबोधित है और वास्तव में जनता के मन को आंदोलित करने वाली एक शिकायत है, चाहे वह सही हो या गलत, जिसके खिलाफ लेखक जनमत को भड़काना चाहता है; तो भले ही वह गुप्त या छिपी हुई भाषा का उपयोग करता हो, इसमें कोई संदेह नहीं हो सकता है कि यह लेख भारतीय प्रेस अधिनियम की धारा 4(1)(ए) के दायरे में आएगा। लेकिन कठिनाई यह है कि सरकार ने इनमें से किसी भी तथ्य को स्थापित करने का कोई प्रयास नहीं किया है। प्रकाशन की प्रासंगिक परिस्थितियों और वास्तविक पृष्ठभूमि को जाने बिना, हमारे लिए उस वास्तविक इरादे का पता लगाना संभव नहीं है जो इस लेखन के पीछे छिपा है; और सरकार द्वारा हमारे समक्ष ऐसी कोई भी सामग्री नहीं रखी गई है जो हमें यह

पता लगाने में सक्षम बना सके कि शब्दों के इस छलावरण के पीछे वास्तव में क्या सार था, यदि यह वास्तव में एक छलावरण है।

लेख का शेष भाग उसी अतिशयोक्तिपूर्ण और रहस्यमयी शैली में आगे बढ़ता है। उन्हीं घिसे-पिटे वाक्यांशों और अभिव्यक्तियों की *उबाऊ पुनरावृत्ति* है। यह आगे कहता है "मैं मृत्यु का दूत हूँ। मैं अछूत हूँ, मैं अस्पष्ट हूँ, मैं विचित्र हूँ, मैं दुःस्वप्न हूँ, मैं लुटेरा हूँ, मैं शत्रु हूँ, मैं अज्ञात हूँ, मैं सुगंधित फूलों वाला फाल्गुन नहीं हूँ; मैं शाश्वत वियोग हूँ, मैं बेचैनी हूँ"। मुझे इस बात पर गहरा संदेह है कि क्या ये अभिव्यक्तियाँ किसी साधारण पाठक को एक पागल आदमी के प्रलाप से बेहतर कुछ और प्रतीत होंगी। मैं कुछ और अभिव्यक्तियों को चुनकर यहाँ रखूँगा जो इसके बाद आती हैं और जो इस धारणा को और मजबूत करती हैं।

"मैं अपनी प्रियतमा के चेहरे पर संघर्ष देखता हूँ, मैं फूलों के शहद में संघर्ष देखता हूँ ... मैं तूफान हूँ, मैं दीपक रागिनी हूँ ... मैं दुर्भाग्य हूँ। मैं संकट की पुकार हूँ, मैं ईर्ष्या हूँ, मैं बुरे दिन हूँ।"

लेख का समापन भाग इस प्रकार है:

"मुझे अंतिम शब्द कहने दोः यदि तुम सच्चे हो, यदि तुम ईश्वर का उपहार हो, यदि तुम नाजायज नहीं हो ... तो एक निडर हृदय के साथ आगे आओ, अत्याचारी के अनुचित आचरण, उत्पीड़न और अन्याय के खिलाफ संघर्ष करो। हम अन्यायपूर्ण उत्पीड़न को सहन नहीं करेंगे। ओ लोगों, अपने दिल की जलन के दर्द से, अत्याचारी उच्च-पदस्थ अत्याचारी के दिल को, सभी गलतियों, सभी दबंगई, सभी उत्पीड़नों, सभी अत्याचारों को ज्वाला में भस्म हो जाने दो।"

हमारे समक्ष इस बात पर काफी बहस हुई कि क्या इन गद्यांशों में एक हिंसक या एक अहिंसक संघर्ष का संकेत मिलता है। इसके दोनों ही अर्थ निकाले जा सकते हैं, लेकिन जैसा कि मैं पहले ही कह चुका हूँ, केवल यही हमारे समक्ष उपस्थित प्रश्न का कोई निर्णायक समाधान नहीं देगा।

इस बात पर विचार करना भी बहुत महत्वपूर्ण नहीं है कि लेखक क्या चाहता है कि "ईर्ष्या और द्वेष", जिसका उसने लेख के अंत में उल्लेख किया है, विकसित हो और फैले या वे हानिरहित और मीठी सुगंध वाले फूलों में बदल जाए। यह निश्चित रूप से एक ऐसा मामला है जिस पर राय में अंतर होना संभव है। आखिरकार, हमें यह देखना है कि समग्र रूप से पढ़े जाने पर लेख साधारण लोगों पर क्या प्रभाव डालेगा। एक साधारण पाठक से यह उम्मीद नहीं की जाती है कि वह इस्तेमाल किए गए शब्दों का सही अर्थ खोजने के लिए किसी व्याख्याता की सहायता ले।

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, यहाँ उपयोग किए गए कई भाव कुछ प्रसिद्ध बंगाली लेखकों के लेखन से शब्दशः लिए गए हैं। ये बंगाल में और अन्य जगहों पर बंगाली भाषी समुदाय के बीच प्रचलित घिसे-पिटे वाक्यांश हैं। यदि पाठक को ऐसा लगता है कि लेखक केवल साहित्यिक चोरी के बल पर खुद को एक प्रसिद्ध लेखक के रूप में पेश करना चाहता था, तो इस लेख के बारे में और जो कुछ भी कहा जाए, यह निश्चित रूप से प्रेस अधिनियम की धारा 4(1)(ए) के दायरे में नहीं आता है। लेख को जैसा है वैसा ही लेने पर, यह ऊंचे-ऊंचे और अर्थहीन शब्दों के जाल के अलावा कुछ नहीं है; और चाहे लेखक 'संघर्ष' या क्रांति का काव्यात्मक विवरण देने के प्रयास में बंगाल के कुछ जाने-माने कवियों की नकल करना चाहता था, या खुद को मानव जाति के मुक्तिदाता के रूप में पेश करना चाहता था, जो पृथ्वी के चेहरे से उत्पीड़न और अन्याय के अंतिम अवशेषों को मिटाने के लिए निकला हो, कोई भी तर्कसंगत व्यक्ति उसे गंभीरता से नहीं लेगा और इस रचना को एक विक्षिप्त मस्तिष्क की बड़बड़ाहट के रूप में देखेगा। यदि, इसके विपरीत, यह पूरी चीज़ एक चतुर चाल है जिसका उद्देश्य कुछ व्यक्तियों या अधिकारियों के खिलाफ जनता के मन को भड़काना है, और हालांकि केवल सामान्य और अस्पष्ट शब्दों का उपयोग किया गया है, फिर भी उन शब्दों का अपना अर्थ और महत्व उनके लिए है जो वास्तविक स्थिति से परिचित हैं, तो यह सरकार का कर्तव्य था कि वह इन मामलों को स्पष्ट

करे और हमारे सामने वह पृष्ठभूमि और संदर्भ प्रस्तुत करे जिसके बिना इस प्रकार की खोखली शब्दावली का कोई अर्थ नहीं निकाला जा सकता था। चूंकि सरकार ने उस कर्तव्य का निर्वहन नहीं किया जो उन पर था, इसलिए मेरी स्पष्ट राय है कि प्रेस आपातकालीन अधिनियम की धारा 4(1)(ए) के प्रावधानों के तहत उत्तरदाता के खिलाफ कोई सुरक्षा आदेश पारित नहीं किया जा सकता था।

दास;न्यायमूर्ति - बहस के दौरान, मुझे प्रश्नगत पुस्तिका के अर्थ और निहितार्थ की के निर्दोषता बारे में कुछ संदेह था, लेकिन अपने विद्वान सहयोगी बंधु न्यायमूर्ति महाजन और न्यायमूर्ति मुखर्जी के निर्णयों के आलोक में, जिन्हें पढ़ने का मुझे बाद में अवसर मिला, मुझे ऐसा नहीं लगता कि पुस्तिका में प्रयुक्त भाषा के उनके द्वारा किए गए अर्थ की असहमति में जाना मेरे लिए उचित होगा। तदनुसार, मैं उनके निष्कर्ष से सहमत हूँ।

बोस;न्यायमूर्ति - मैं अपने सहयोगी बंधु महाजन और मुखर्जी से सहमत हूँ।

अपील खारिज की गई।

अपीलकर्ता के एजेंट: *आर. सी. प्रसाद।*

उत्तरदाता के एजेंट:*पी. के. चटर्जी।*

खंडन (डिस्क्लेमर)- स्थानीय भाषा में निर्णय के अनुवाद का आशय, पक्षकारों को इसे अपनी भाषा में समझने के उपयोग तक ही सीमित है और अन्य प्रयोजनार्थ इसका उपयोग नही किया जा सकता। समस्त व्यवहारिक, कार्यालयी, न्यायिक एवं सरकारी प्रयोजनार्थ, निर्णय का अंग्रेजी संस्करण ही प्रमाणिक होगा साथ ही निष्पादन तथा कार्यान्वयन के प्रयोजनार्थ अनुमान्य होगा।